

अनुसन्धान-विषयक महत्वपूर्ण प्रश्नोत्तर

कितने ही पाठकों व इतर सज्जनोंको अनुसन्धानादि-विषयक शंकाएँ उत्पन्न होती हैं और वे इधर-उधर पूछते हैं। कितनोंको उत्तर ही नहीं मिलता और कितनोंको उनके पूछनेका अवसर नहीं मिल पाता। इससे उनकी शंकाएँ उनके हृदयमें ही विलीन हो जाती हैं और इस तरह उनकी जिज्ञासा अतृप्त ही बनी रहती है। अतएव उनके लाभकी दृष्टिसे यहाँ एक 'शंका-समाधान' प्रस्तुत है।

१. शंका—कहा जाता है कि विद्यानन्द स्वामीने 'विद्यानन्दमहोदय' नामक एक बहुत बड़ा ग्रन्थ लिखा है, जिसके उल्लेख उन्होंने स्वयं अपने श्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री आदि ग्रन्थोंमें किये हैं। परन्तु उनके बाद होनेवाले माणिक्यनन्दि, वादिराज, प्रभाचन्द्र आदि बड़े-बड़े आचार्योंसे किसीने भी अपने ग्रन्थोंमें उसका उल्लेख नहीं किया, इससे क्या वह विद्यानन्दके जीवनकाल तक ही रहा है—उसके बाद नष्ट हो गया ?

१. समाधान—नहीं, विद्यानन्दके जीवनकालके बाद भी उसका अस्तित्व मिलता है। विक्रमकी बारहवीं तेरहवीं शताब्दीके प्रसिद्ध विद्वान् वादी देवसूरिने अपने 'स्याद्वादरत्नाकर' (द्वि० भा०, पृ० ३४९) में 'विद्यानन्दमहोदय' ग्रन्थकी एक पंक्ति उद्धृत करके नामोल्लेखपूर्वक उसका समालोचन किया है। यथा—

'यत्तु विद्यानन्दः...महोदये च 'कालान्तराविस्मरणकारणं हि धारणाभिधानं ज्ञानं संस्कारः प्रतीयते' इति वदन् संस्कारधारणयोरैकार्थ्यमचकथत्'।

इससे स्पष्ट जाना जाता है कि 'विद्यानन्दमहोदय' विद्यानन्द स्वामीके जीवनकालसे तीनसौ-चारसौ वर्ष बाद तक भी विद्वानोंकी ज्ञानचर्चा और अध्ययनका विषय रहा है। आश्चर्य नहीं कि उसकी सैकड़ों कापियां न हो पानेसे वह सब विद्वानोंको शायद प्राप्त नहीं हो सका अथवा प्राप्त भी रहा हो तो अष्टसहस्री आदिकी तरह वादिराज आदिने अपने ग्रन्थोंमें उसके उद्धरण ग्रहण न किये हों। जो हो, पर उक्त प्रमाणसे निश्चित है कि वह बननेके कई सौ वर्ष बाद तक विद्यमान रहा है। सम्भव है वह अब भी किसी लायब्रेरी या सरस्वती-भण्डारमें दीमकोंका भक्ष्य बना पड़ा हो। अन्वेषण करनेपर अकलङ्कदेवके प्रमाणसंग्रह तथा अनन्तवीर्यकी सिद्धिविनिश्चयटीकाकी तरह किसी श्वेताम्बर शास्त्रभंडारमें मिल जाय; क्योंकि उनके यहाँ शास्त्रोंकी सुरक्षा और सुव्यवस्था यति-मुनियोंके हाथोंमें रही है और अब भी वह कितने ही स्थानों पर चलती है। हालमें हमें मुनि पुण्यविजयजीके अनुग्रहसे वि० सं० १४५४ की लिखी अर्थात् साढ़े पांचसौ वर्ष पुरानी अधिक शुद्ध अष्टसहस्रीकी प्रति प्राप्त हुई है, जो मुद्रित अष्टसहस्रीमें सैकड़ों सूक्ष्म तथा स्थूल अशुद्धियों और त्रुटित पाठोंको प्रदर्शित करती है। यह भी प्राचीन प्रतियोंकी सुरक्षाका एक अच्छा उदाहरण है। इससे 'विद्यानन्दमहोदय' के भी श्वेताम्बर शास्त्रभंडारोंमें मिलनेकी अधिक आशा है। अन्वेषकोंको उसकी खोजका प्रयत्न करते रहना चाहिये।

२. शंका—विद्वानोंसे सुना जाता है। कि बड़े अनन्तवीर्य अर्थात् सिद्धिविनिश्चयटीकाकारने अकलंक देवके 'प्रमाणसंग्रह' पर 'प्रमाणसंग्रहभाष्य' या 'प्रमाणसंग्रहालंकार' नामका बृहद् टीका-ग्रन्थ लिखा है परन्तु आज वह उपलब्ध नहीं हो रहा। क्या उसके अस्तित्व-प्रतिपादक कोई उल्लेख है जिनसे विद्वानोंकी उक्त अनुश्रुतिको पोषण मिले ?

२. समाधान—हाँ, प्रमाणसंग्रहभाष्य अथवा प्रमाणसंग्रहालंकारके उल्लेख मिलते हैं। स्वयं सिद्धि-विनिश्चयटीकाकारने सिद्धिविनिश्चयटीकामें उसके अनेक जगह उल्लेख किये हैं और उसमें विशेष जानने तथा कथन करनेकी सूचनाएँ की हैं। यथा—

१. 'इति चर्चितं प्रमाणसंग्रहभाष्ये'—सि० वि० टी० लि० प० १२।
२. 'इत्युक्तं प्रमाणसंग्रहालंकारे'—सि० लि० प० १९।
३. 'शेषमत्र प्रमाणसंग्रहभाष्यात्प्रत्येयम्'—सि० प० ३९२।
४. 'प्रपंचस्तु नेहोक्तो ग्रंथगौरवात् प्रमाणसंग्रहभाष्याज्ज्ञेयः'—सि० लि० प० ९२१।
५. 'प्रमाणसंग्रहभाष्ये निरस्तम्'—सि० लि० प० ११०३।
६. 'दोषो रागादिव्याख्यातः प्रमाणसंग्रहभाष्ये'—सि० लि० प० १२२२।

इन असंदिग्ध उल्लेखोंसे 'प्रमाणसंग्रहभाष्य' अथवा 'प्रमाणसंग्रहालंकार' की अस्तित्वविषयक विद्वद्-अनुश्रुतिको जहाँ पोषण मिलता है वहाँ उसकी महत्ता, अपूर्वता और बृहत्ता भी प्रकट होती है। ऐसा अपूर्व-ग्रन्थ, मालूम नहीं इस समय मौजूद है अथवा नष्ट हो गया है? यदि नष्ट नहीं हुआ और किसी लायब्रोरीमें मौजूद है तो उसका अनुसन्धान होना चाहिये। कितने खेदकी बात है कि हमारी लापरवाहीसे हमारे विशाल साहित्योद्यानमेंसे ऐसे-ऐसे सुन्दर और सुगन्धित ग्रन्थ-प्रसून हमारी नजारोंसे ओझल हो गये। यदि हम मालियों-ने अपने इस विशाल बागकी जागरूक होकर रक्षा की होती तो वह आज कितना हरा-भरा दिखता और लोग उसे देखकर जैन-साहित्योद्यानपर कितने मुग्ध और प्रसन्न होते। विद्वानोंको ऐसे ग्रन्थोंका पता लगानेका पूरा उद्योग करना चाहिये।

३. शंका—गोम्मटसार जीवकाण्ड और धवलामें जो नित्यनिगोद और इतर निगोदके लक्षण पाये जाते हैं क्या उनसे भी प्राचीन उनके लक्षण मिलते हैं?

३. समाधान—हाँ, मिलते हैं। तत्त्वार्थवार्तिकमें अकलङ्कदेवने उनके निम्न प्रकार लक्षण दिये हैं—
'त्रिष्वपि कालेषु त्रसभावयोग्या ये न भवन्ति ते नित्यनिगोताः, त्रसभावमवाप्ता अवाप्स्यन्ति च ये तेऽनित्यनिगोताः'।—त० वा० पृ० १००।

अर्थात् जो तीनों कालोंमें भी त्रसभावके योग्य नहीं हैं वे नित्यनिगोत हैं और जो त्रसभावको प्राप्त हुए हैं तथा प्राप्त होंगे वे अनित्यनिगोत हैं।

४. शंका—'संजद' पदकी चर्चके समय आपने 'संजद पदके सम्बन्धमें अकलङ्कदेवका महत्वपूर्ण अभिमत' लेखमें यह बतलाया था कि अकलङ्कदेवने तत्त्वार्थवार्तिकके इस प्रकरणमें षट्खण्डागमके सूत्रोंका प्रायः अनुवाद दिया है। इसपर कुछ विद्वानोंका कहना था कि अकलङ्कदेवने तत्त्वार्थवार्तिकमें षट्खण्डागमका उपयोग किया ही नहीं। क्या उनका यह कहना ठीक है? यदि है तब आपने तत्त्वार्थवार्तिकमें षट्खण्डागमके सूत्रोंका अनुवाद कैसे बतलाया?

४. समाधान—हम आपको ऐसे अनेक प्रमाण नीचे देते हैं जिनसे आप और वे विद्वान् यह मानने-को बाध्य होंगे कि अकलङ्कदेवने तत्त्वार्थवार्तिकमें षट्खण्डागमका खूब उपयोग किया है। यथा—

(१) 'एवं हि समयोऽवस्थितः सत्प्ररूपणायां कायानुवादे—'त्रसा द्वीन्द्रियादारभ्य आ अयोग-केवलिन इति'।—तत्त्वा० पृ० ८८।

१. वीर-सेवामन्दिरमें जो सिद्धिविनिश्चयटीकाकी लिखित प्रति मौजूद है उसीके आधारसे पत्रों की संख्या डाली गई है।

यह षट्खण्डागमके निम्न सूत्रका संस्कृतानुवाद है—

“तसकाइया बीइंदिय-प्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति” ।—षट्ख० १-१-४४ ।

(२) ‘आगमे हि जीवस्थानादिष्वनुयोगद्वारेणादेशवचने नारकाणामेवादी सदादिप्ररूपणा कृता ।’—तत्त्वा० पृ० ५५ ।

इसमें सत्प्ररूपणाके २५वें सूत्रकी ओर स्पष्ट संकेत है ।

(३) ‘एवं हि उक्तमार्षे वर्गणायां बन्धविधाने नोआगमद्रव्यबन्धविकल्पे सादिवैस्रसिकबन्ध-निर्देशः प्रोक्तः विषम स्निग्धतायां विषमरूक्षतायां च बन्धः समस्निग्धतायां समरूक्षतायां च भेदः इति तदनुसारेण च सूत्रमुक्तम्’—तत्त्वा० ५-३७, पृ० २४२ ।

यहाँ पांचवें वर्गणा खण्डका स्पष्ट उल्लेख है ।

(४) ‘स्यादेतदेवमागमः प्रवृत्तः । पंचेन्द्रिया असंज्ञिपंचेन्द्रियादारभ्य आ अयोगिकेवलिनः’
—त० वा० पृ० ६३ ।

यह षट्खण्डागमके इस सूत्रका अक्षरशः संस्कृतानुवाद है—

“पंचिदिया असणिणपंचिदिय—प्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति” —षट्ख० १-१-३७ ।

इन प्रमाणोंसे असंदिग्ध है कि अकलङ्कदेवने तत्त्वार्थवार्त्तिकमें षट्खण्डागमका अनुवादादिरूपसे उप-योग किया है ।

५—शंका—मनुष्यगतिमें आठ वर्षकी अवस्थामें भी सम्यक्त्व उत्पन्न हो जाता है, ऐसा कहा जाता है, इसमें क्या कोई आगम प्रमाण है ?

५—समाधान—हाँ, उसमें आगम प्रमाण है । तत्त्वार्थवार्त्तिकमें अकलङ्कदेवने लिखा है कि पर्याप्तक मनुष्य ही सम्यक्त्वको उत्पन्न करता है, अपर्याप्तक मनुष्य नहीं और पर्याप्तक मनुष्य आठ वर्षकी अवस्थासे ऊपर उसको उत्पन्न करते हैं, इससे कममें नहीं । यथा—

‘मनुष्या उत्पादयन्तः पर्याप्तका उत्पादयन्ति नापर्याप्तकाः । पर्याप्तकाश्चाऽष्टवर्षस्थिते-
रुपर्युत्पादयन्ति नाधस्तात् ।—पृ० ७२, अ० २, सू० ३ ।

६—शंका—दिगम्बर मुनि जब विहार कर रहे हों और रास्तेमें सूर्य अस्त हो जाय तथा आस-पास कोई गाँव या शहर भी न हो तो क्या विहार बन्द करके वे वहीं ठहर जायेंगे अथवा क्या करेंगे ?

६—समाधान—जहाँ सूर्य अस्त हो जायगा वहीं ठहर जायेंगे, उससे आगे नहीं जायेंगे । भले ही वहाँ गाँव या शहर न हो, क्योंकि मुनिराज ईर्यासमितिके पालक होते हैं और सूर्यास्त होनेपर ईर्यासमितिका पालन बन नहीं सकता और इसीलिए सूर्य जहाँ उदय होता है वहाँसे तब नगर या गाँवके लिए बिहार करते हैं । कि जैसा आचार्य जटासिंहनन्दिने वराङ्गचरितमें कहा हैः—

यस्मिंस्तु देशेऽस्तमुपैति सूर्यस्तत्रैव संवासमुखा बभूवुः ।

यत्रोदयं प्राप सहस्ररश्मिर्यातास्ततोऽथा पुरि वाऽप्रसंगाः ॥—३०-४७

इसी बातको मुनियोंके आचार-प्रतिपादक प्रधान ग्रन्थ मूलाचार (गाथा ७८४) में निम्न रूपसे बतलाया है—

ते णिमममा सरीरे जत्थत्थमिदा वसंति अणिएदा ।

सवणा अप्पडिवद्धा विज्जू तह दिट्ठणदठा या ॥

अर्थात् 'वे साधु शरीरमें निर्मम हुए जहाँ सूर्य अस्त हो जाता है वहाँ ठहर जाते हैं। कुछ भी अपेक्षा नहीं करते। और वे किसीसे बन्धे हुए नहीं, स्वतन्त्र हैं, बिजलीके समान दृष्टनष्ट हैं, इसलिये अपरिग्रह हैं।

७—शंका—लोग कहते हैं कि दिगम्बर जैन मुनि वर्षावास (चातुर्मास) के अतिरिक्त एक जगह एक दिन रात या ज्यादासे ज्यादा पाँच दिन-रात तक ठहर सकते हैं। पीछे वे वहाँसे दूसरी जगहको जरूर बिहार कर जाते हैं, इसे ये सिद्धान्त और शास्त्रोंका कथन बतलाते हैं। फिर आचार्य शांतिसागरजी महाराज अपने संघ सहित वर्षभर शोलापुर शहरमें क्यों ठहरे? क्या कोई ऐसा अपवाद है?

७—समाधान—लोगोंका कहा ठीक है। दिगम्बर जैन मुनि गाँवमें एक रात और शहरमें पाँच रात तक ठहरते हैं। ऐसा सिद्धान्त है और उसे शास्त्रोंमें बतलाया गया है। मूलाचारमें और जटासिंहनन्दिके वरांगचरितमें यही कहा है। यथा—

गामेयरादिवासी गयरे पंचाहवासिणो धीरा ।

सवणा फामुविहारी विवित्तएंगंतवासी य ॥—मूला० ७८५

ग्रामैकरात्रं नगरे च पञ्च समुषुरव्यग्रमनःप्रचाराः ।

न किंचिदप्यप्रतिबाधमाना विहारकाले समितो विजिह्वः ॥—वरांग ३०-४५

परन्तु गाँव या शहरमें वर्षों रहना मुनियोंके लिए न उत्सर्ग बतलाया और न अपवाद।

भगवती आराधनामें मुनियोंके एक जगह कितने काल तक ठहरने और बादमें न ठहरनेके सम्बन्धमें विस्तृत विचार किया गया है। लेकिन वहाँ भी एक जगह वर्षों ठहरना मुनियोंके लिये विहित नहीं बतलाया। नौवें और दशवें स्थितिकल्पोंकी विवेचना करते हुए विजयोदया और मूलाराधना दोनों टीकाओंमें सिर्फ इतना ही प्रतिपादन किया है कि नौवें कल्पमें मुनि एक एक ऋतुमें एक एक मास एक जगह ठहरते हैं। यदि ज्यादा दिन ठहरें तो 'उद्गमादि दोषोंका परिहार नहीं होता, वसतिकापर प्रेम उत्पन्न होता है, सुखमें लम्पटपना उत्पन्न होता है, आलस्य आता है, सुकुमारताकी भावना उत्पन्न होती है, जिन श्रावकोंके यहाँ आहार पूर्वमें हुआ था वहाँ ही पुनरपि आहार लेना पड़ता है, ऐसे दोष उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिये मुनि एक ही स्थानमें चिरकाल तक रहते नहीं हैं।' दशवें स्थितिकल्पमें चतुर्मासमें एक ही स्थानपर रहने का विधान किया है और १२० दिन एक स्थानपर रह सकनेका उत्सर्ग नियम बतलाया है। कमती बढ़ती दिन ठहरनेका अपवाद नियम भी इस प्रकार बतलाया है कि श्रुतग्रहण (अभ्यास), वृष्टिकी बहुलता, शक्तिका अभाव, वैयावृत्य करना आदि प्रयोजन हों तो ३६ दिन और अधिक ठहर सकते हैं अर्थात् आषाढशुक्ला दशमीसे प्रारम्भ कर कार्तिक पौर्णमासीके आगे तीस दिन तक एक स्थानमें और अधिक रह सकते हैं। कम दिन ठहरनेके कारण ये बतलाये हैं कि मरी रोग, दुर्भिक्ष, ग्राम अथवा देशके लोगोंको राज्य-क्रान्ति आदिसे अपना स्थान छोड़कर अन्य ग्रामादिकोंमें जाना पड़े, संघके नाशका निमित्त उपस्थित हो जाय आदि, तो मुनि चतुर्मासमें भी अन्य स्थानको विहार कर जाते हैं। विहार न करनेपर रत्नत्रयके नाशकी सम्भावना होती है। इसलिये आषाढ पूर्णिमा बीत जानेपर प्रतिपदा आदि तिथियोंमें दूसरे स्थानको जा सकते हैं और इस तरह एकसौ बीस दिनोंमें बीस दिन कम हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त वर्षों ठहरनेका वहाँ कोई अपवाद नहीं है। यथा—

“ऋतुषु षट्सु एकैकमेव वासमेकत्र वसतिरन्यदा विहरति इत्ययं नवमः स्थितिकल्पः ।

एकत्र चिरकालावस्थाने नित्यमुद्गमदोषं च न परिहर्तुं क्षमः । क्षेत्रप्रतिबद्धता, सातगुप्ता, अलसता, सौकुमार्यभावना, ज्ञातभिक्षाग्राहिता च दोषाः । पञ्चो समणकप्पो नाम दशमः । वर्षा-

कालस्य चतुर्षु मासेषु एकत्रैवावस्थानं भ्रमणत्यागः । स्थावरजङ्गमजीवाकुलो हि तदा क्षितिः तदा भ्रमणे महानसंयमः; वृष्ट्या शीतवातपातेन वात्मविराधना । पतेद् वाप्यादिषु स्थाणुकन्टकादिभिर्वा प्रच्छन्नैर्जलेन कर्द्मेन बाध्यत इति विशत्यधिकं दिवसशतं एकत्रावस्थानमित्ययमुत्सर्गः । कारणपेक्षया तु हीनाधिकं वासस्थानं, संयतानां आषाढशुद्धदशम्यां स्थितानां उपरिष्ठाच्च कार्तिकपौर्णमास्यास्त्रिंशद्विवासावस्थानम् । वृष्टिबहुलता, श्रुतग्रहणं, शक्त्यभाववैयावृत्यकरणं प्रयोजनमुद्दिश्य अवस्थानमेकत्रेति उत्कृष्टकालः । मार्या, दुर्भिक्षे, ग्रामजनपदचलने वा गच्छनाशनिमित्ते समुपस्थिते देशान्तरं याति । अवस्थाने सति रत्नत्रयविराधना भविष्यतीति । पौर्णमास्या-माषाढग्रामतिक्रान्तायां प्रतिपदादिषु दिनेषु याति । यावच्च त्यक्ता विशति-दिवसा एतदपेक्ष्य हीनता कालस्य एष दशकः स्थितिकल्पः ।” —विजयोदया टी० पृ० ९१६ ।

आचार्य शान्तिसागर महाराज संघ सहित वर्षभर शोलापुर शहरमें किस दृष्टि अथवा किस शास्त्रके आधारसे ठहरे रहे । इस सम्बन्धमें संघको अपनी दृष्टि स्पष्ट कर देना चाहिए, जिससे भविष्यमें दिग्म्बर मुनिराजोंमें शिथिलाचारिता और न बढ़ जाय ।

८—शंका—अरिहंत और अरहंत इन दोनों पदोंमें कौन पद शुद्ध है और कौन अशुद्ध ?

८—समाधान—दोनों पद शुद्ध हैं । आर्ष-ग्रन्थोंमें दोनों पदोंका व्युत्पत्तिपूर्वक अर्थ दिया गया है और दोनोंको शुद्ध स्वीकार किया गया है । श्रीषट्खण्डागमकी धवला टीकाकी पहली पुस्तकमें आचार्य वीरसेनस्वामीने देवतानमस्कारसूत्र (णमोकारमंत्र) का अर्थ देते हुए अरिहंत और अरहंत दोनोंका व्युत्पत्ति-अर्थ दिया है और लिखा है कि अरिका अर्थ मोहशत्रु है उसको जो हनन (नाश) करते हैं उन्हें ‘अरिहंत’ कहते हैं । अथवा अरि नाम ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिकर्मोंका है उनको जो हनन (नाश) करते हैं उन्हें अरिहंत कहते हैं । उक्त कर्मोंके नाश हो जानेपर शेष अघाति कर्म भी ऋष्ट (सड़े) बीजके समान निःशक्ति होजाते हैं और इस तरह समस्त कर्मरूप अरिको नाश करनेसे ‘अरिहंत’ ऐसी संज्ञा प्राप्त होती है । और अतिशय पूजाके अर्ह—योग्य होनेसे उन्हें अरहंत या अर्हन्त ऐसी भी पदवी प्राप्त होती है, क्यों कि जन्मकल्याणादि अवसरोंपर इन्द्रादिकों द्वारा वे पूजे जाते हैं । अतः अरिहंत और अरहंत दोनों शुद्ध हैं । फिर भी णमोकारमन्त्रके स्मरणमें ‘अरिहंत’ शब्दका उच्चारण ही अधिक उपयुक्त है, क्योंकि षट्खण्डागममें मूल पाठ यही उपलब्ध होता है और सर्वप्रथम व्याख्या भी इसी पाठकी पाई जाती है । इसके सिवाय जिन, जिनेन्द्र, वीतराग जैसे शब्दोंका भी यही पाठ सीधा बोधक है । भद्र-बाहुकृत आवश्यक निर्युक्तिमें भी दोनों शब्दोंका व्युत्पत्ति अर्थ देते हुए प्रथमतः ‘अरिहंत’ शब्दकी ही व्याख्या की गई है । यथा—

अट्ठविहं पि य कम्मं अरिभूयं होइ सव्वजीवाणं ।

तं कम्ममरिं हंता अरिहंता तेण वुच्चंति ॥९२०॥

अरिहंति वंदण-णमंसणाइं अरिहंति पूथसक्कार ।

सिद्धिगमणं च अरिहा अरहंता तेण वुच्चंति ॥९२१॥

९—शंका—कहा जाता है कि भगवान् आदिनाथसे मरीचि (भरतपुत्र) ने जब यह सुना कि उसे अन्तिम तीर्थंकर होना है तो उसको अभिमान आगया, जिससे वह स्वच्छन्द प्रवृत्ति करके नाना कुयोनियोंमें गया । क्या उसके इस अभिमानका उल्लेख प्राचीन शास्त्रोंमें आया है ?

९—समाधान—हाँ, आया है । जिनसेनाचार्यकृत आदिपुराणके अतिरिक्त भद्रबाहुकृत आवश्यक-निर्युक्तिमें भी मरीचिके अभिमानका उल्लेख मिलता है और वह निम्न प्रकार है—

तव्वयणं सोऊणं तिवइं आप्फोडिऊण तिवखुत्तो ।
 अब्भहियजायहरिसो तस्स मरीई इमं भणई ॥४३०॥
 जइ वासुदेवु पढमो मूआइ विदेहि चक्कवट्टित्तं ।
 चरमो तित्थयराणं होऊं अलं इत्तिअं मज्झ ॥४३१॥

१०. शंका—पूजा और अर्चामें क्या भेद हैं ? क्या दोनों एक हैं ?

१०. समाधान—यद्यपि सामान्यतः दोनोंमें कोई भेद नहीं है, पर्यायशब्दोंके रूपमें दोनोंका प्रयोग रूढ़ है तथापि दोनोंमें कुछ सूक्ष्म भेद जरूर है। इस भेदको श्रीवीरसेनस्वामीने षट्खण्डागमके 'बन्धस्वामित्व' नामके दूसरे खण्डकी धवला-टीका पुस्तक आठमें इस प्रकार बतलाया है—

“चरु-बलि-पुष्प-फल-गंध-धूप-दीवादीहि समभक्तिपयासो अचचण णाम । एदाहि सह अइदधय-कप्पस्सख-महामह-सव्वदोभदादिमहिमाविहाणं पूजा णाम ।” पृ० ९२ ।

अर्थात् चरु, बलि (अक्षत), पुष्प, फल, गन्ध, धूप और दीप इत्यादिसे अपनी भक्ति प्रकाशित करना अर्चना (अर्चा) है और इन पदार्थोंके साथ ऐन्द्रध्वज, कल्पवृक्ष, महामह, सर्वतोभद्र आदि महिमा (धर्मप्रभावना) का करना पूजा है ।

तात्पर्य यह कि फलादि द्रव्योंको चढ़ा कर (स्वाहापूर्वक समर्पण कर) संक्षेपमें लघु भक्तिको प्रकट करना अर्चा है और उक्त द्रव्यों सहित समारोहपूर्वक विशाल भक्ति प्रकट करना पूजा है ।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि इन्द्रध्वज आदि पूजामहोत्सवोंका विधान वीरसेनस्वामीसे बहुत पहलेसे विहित है और जैन शासनकी प्रभावनामें उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है ।

११. शंका—निम्न पद्य किस ग्रन्थका मूल पद्य है ? उसका मूल स्थान बतलायें ?

सुखमालहादनाकारं विज्ञानं मेयबोधनम् ।
 शक्तिः क्रियानुमेया स्याद्यूनः कान्तासमागमे ॥

११. समाधान—उक्त पद्य अनेक ग्रन्थोंमें उद्धृत पाया जाता है। आचार्य विद्यानन्दने अष्ट-सहस्री (पृ० ७८) में इसे 'इति वचनात्' शब्दोंके साथ दिया है। आचार्य अभयदेवने सन्मत्तिसूत्र-टीका (पृ० ४७८) में इस पद्यको उद्धृत करते हुए लिखा है—

“न च सौगतमतमेतत्, न जैनमतमिति वक्तव्यम्, 'सहभाविनो गुणाः क्रमभाविनः पर्यायाः' [] इति जैनैरभिधानात् । तथा च सहभावित्वं गुणानां प्रतिपादयता दृष्टान्तार्थमुक्तम्—”

इसके बाद उक्त पद्य दिया है। सिद्धिविनिश्चयटीकाकार बड़े अनन्तवीर्यने इसी पद्यका निम्न प्रकार उल्लेख किया है—

“कथमन्यथा न्यायविनिश्चये 'सहभुवो गुणाः' इत्यस्य 'सुखमालहादनाकारं....' इति निदर्शनं स्यात् ।”—(टी० लि० पृ० ७६ ।)

अभयदेव और अनन्तवीर्यके इन उल्लेखोंसे प्रतीत होता है कि गुणोंके सहभावीपना प्रतिपादन करनेके लिए दृष्टान्तके तौरपर उसे अकलङ्कदेवने न्यायविनिश्चयमें कहा है। परन्तु न्यायविनिश्चय मूलमें यह पद्य उपलब्ध नहीं होता। हो सकता है उसकी स्वोपज्ञवृत्तिमें उसे कहा हो। मूलमें तो सिर्फ ११वीं कारिकामें इतना ही कहा है कि 'गुणपर्ययवद्द्रव्यं ते सहक्रमवृत्तयः'। यदि वस्तुतः यह पद्य न्यायविनिश्चयवृत्तिमें कहा

है तो यह प्रश्न उठता है कि वहाँ वृत्तिकारने उसे उद्धृत किया है या स्वयं रचकर उपस्थित किया है ? यदि उद्धृत किया है तो मालूम होता है कि वह अकलङ्कदेवसे भी प्राचीन है । और यदि स्वयं रचा है तो उसे उनके न्यायविनिश्चयकी स्वोपज्ञवृत्तिका समझना चाहिए । वादिराजसूरिने न्यायविनिश्चयविवरण (प० २४० पूर्वा०) में 'यथोक्तं स्याद्वादमहार्णवं' शब्दोंके उल्लेख-पूर्वक उक्त पद्यको प्रस्तुत किया है, जिससे वह स्याद्वादमहार्णवं नामक किसी जैन दार्शनिक ग्रन्थका जाना जाता है । यह ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है और इससे यह नहीं कहा जासकता कि इसके रचयिता अमुक आचार्य हैं । हो सकता है कि अकलङ्कदेवने भी इसी स्याद्वादमहार्णवपरसे उक्त पद्य उदाहरणके बतौर न्यायविनिश्चयकी स्वोपज्ञवृत्तिमें, जो आज अनुपलब्ध है, उल्लेखित किया हो और इससे प्रकट है कि यह पद्य काफी प्रसिद्ध और पुराना है ।

१२. शंका—आधुनिक कितने ही विद्वान् यह कहते हुए पाये जाते हैं कि प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिल भट्टने अपने मीमांसा-श्लोकवार्तिककी निम्न कारिकाओंको समन्तभद्रस्वामीकी आप्तमीमांसागत 'घटमौलिसुवर्णार्थी' आदि कारिकाके आधारपर रचा है और इसलिए समन्तभद्रस्वामी कुमारिलभट्टसे बड़े पूर्ववर्ती विद्वान् हैं । क्या उनके इस कथनको पुष्ट करनेवाला कोई प्राचीन पुष्ट प्रमाण भी है ? कुमारिलकी कारिकाएँ ये हैं—

नद्धमानकभंगेन रुचक्रः क्रियते यदा ।
तदा पूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः ॥
हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्यं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम् ।

१२. समाधान—उक्त विद्वानोंके कथनको पुष्ट करने वाला प्रमाण भी मिलता है । ई० सन् १०२५ के प्रख्यात विद्वान् आचार्य वादिराजसूरिने अपने न्यायविनिश्चयविवरण (लि० प० २४५) में एक असन्दिग्ध स्पष्ट उल्लेख किया है और जो निम्न प्रकार है—

“उक्तं स्वामिसमन्तभद्रैस्तदुपजीविना भट्टेनापि—
घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।
शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ॥
वद्धमानकभंगेन रुचक्रः क्रियते यदा ।
तदा पूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः ॥
हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्यं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम् । इति च ॥”

इस उल्लेखमें वादिराजने जो 'तदुपजीविना' पदका प्रयोग किया है उससे स्पष्ट है कि आजसे नौ सौ वर्ष पूर्व भी कुमारिलको समन्तभद्रस्वामीका उक्त विषयमें अनुगामी अथवा अनुसर्ता माना जाता था । जो विद्वान् समन्तभद्रस्वामीको कुमारिल और उसके समालोचक धर्मकीर्तिके उत्तरवर्ती बतलाते हैं उन्हें वादिराजका यह उल्लेख अभूतपूर्व और प्रामाणिक समाधान उपस्थित करता है ।